हिंदी की हक़ीक़त और हिंदुस्तानी का अप्राप्य आदर्श

ज्ञानेन्द्र कुमार संतोष

राजीव रंजन गिरि की नयी रचना *परस्पर : भाषा-साहित्य-आंदोलन* में तीन शोध-निबंध हैं : 'उन्नीसवीं सदी में ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली विवाद', 'राष्ट्र-निर्माण, संविधान सभा और भाषा-विमर्श' और 'बीच बहस में लघुपत्रिकाएँ : आंदोलन, संरचना और प्रासंगिकता'।

हिंदी अस्मिता का संघर्ष लम्बा, जटिल, द्वंद्वात्मक और अंतर्विरोधपूर्ण रहा है। पहले आलेख में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों के दौरान 'ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली' के वर्चस्व-विवाद को विस्तारपूर्वक दिखाने की कोशिश की गयी है। इसका केंद्रीय शोध-क्षेत्र भारतेंदु के देहांत और *सरस्वती* के प्रकाशन के बीच की अवधि का है। बहुस्तरीय सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक कारणों से उन्नीसवीं सदी में हिंदी और उर्दू एवं ब्रजभाषा और खड़ी बोली के बीच संबंध विवादग्रस्त हुए थे। उस दौर के हिंदी-विमर्श को समग्रता में समझने के लिए हिंदी-उर्दू संबंध को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यह विवाद ब्रजभाषा-खड़ी बोली की तुलना में कहीं ज़्यादा प्राथमिक, द्वंद्वात्मक और प्रत्यक्ष था। ख़ास बात यह है कि लेखक को यह आभास है कि खड़ी बोली और ब्रजभाषा के विवाद में उर्दू की उपस्थिति और भावी नियति की प्रत्यक्ष भूमिका रही है। अत: लेखक की यह स्वीकारोक्ति की इस पुस्तक में 'उर्दू-हिंदी' के मसले को सायास छोड़ दिया गया है, विषय और पुस्तक की विमर्शगत सम्भावना के अनुकूल प्रतीत नहीं होता।
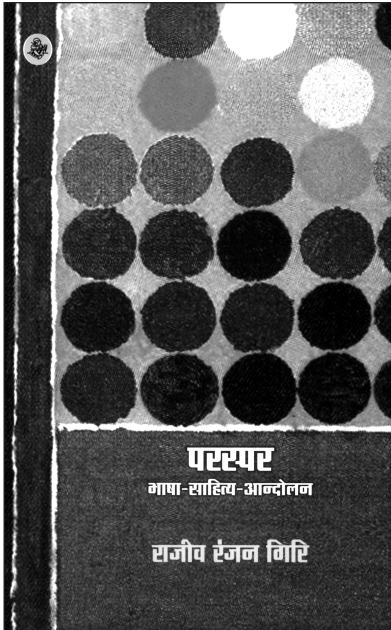
परस्पर : भाषा-साहित्य-आंदोलन (2018)
राजीव रंजन गिरि
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
मूल्य : 595 रु. और पृष्ठ : 208

इस अधूरेपन के बावजूद गिरि ने इस भाषाई संघर्ष को प्रामाणिक विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। इसमें शामिल भारतेंदु मण्डल के साहित्यकारों और इस मण्डल से बाहर के साहित्यकर्मियों के भाषाई पक्षों और आग्रहों का प्रामाणिक और सटीक विवरण प्रस्तुत करने के साथ उन्होंने अपनी पक्षधरता को भी प्रत्यक्ष किया है। उनकी केंद्रीय मान्यता है कि 'हिंदी की जनपदीय भाषाओं की अस्मिता को दबाने के मक़सद से जो तर्क दिये जाते हैं, वे लोकतांत्रिक मूल्यों की अवहेलना करते हैं।' उन्होंने जनपदीय बोलियों को भी संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किये जाने की माँग का ज़ोरदार समर्थन किया है। लेखक को महसूस होता है कि 'जनपदीय भाषाओं से हिंदी की अन्योन्यक्रिया में हिंदी बढ़ती चली गयी, जबकि जनपदीय भाषाओं का दायरा नहीं बढ़ा बल्कि एक लिहाज़ से देखें तो जनपदीय भाषाएँ कमतर होती गयीं। इनका महत्त्व भी घटता गया।' लेखक खीज के साथ कहते हैं कि 'हिंदी ने इन जनपदीय भाषाओं से शब्दों को लेकर अपना विकास किया' और 'अंग्रेज़ी के बाद इस देश में सत्ता की भाषा हिंदी है।' लेखक की दृढ़ मान्यता है कि छत्तीसगढ़ी, मैथिली, भोजपुरी और राजस्थानी सरीखी भाषाओं की माँगों को हिंदी को 'चिंदी-चिंदी' करने की 'साज़िश' के रूप में समझना वाजिब नहीं है। लेखक की इस मान्यता की समीक्षा आगे की जाएगी।

ब्रजभाषा और खड़ी बोली के बीच संघर्ष के विवरण में लेखक की पक्षधरता खड़ी बोली हिंदी से ज़्यादा 'हिंदुस्तानी' के पक्ष में प्रतीत होती है। इसी कारण पहले अध्याय में अयोध्या प्रसाद खत्री इस विमर्श के केंद्र में हैं। लेखक ने खत्री के 'खड़ी बोली काल' के आंदोलन को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हुए खीज व्यक्त की है कि हिंदी के साहित्येतिहास में उनका उचित मूल्यांकन नहीं हुआ है और न ही उन्हें ऐसी स्वीकृति मिली है जो भारतेंदु या महावीर प्रसाद द्विवेदी को प्राप्त हुई है। लेखक ने खिन्नता व्यक्त करते हुए कहा है कि आचार्य शुक्ल ने भारतेंदु को तो आधुनिकता का प्रवर्त्तक माना पर 'आधुनिक भाषा को ले कर आंदोलन करने वाले अयोध्या प्रसाद खत्री को वे इसका वाजिब श्रेय नहीं देते।' लेखक की दृष्टि में अयोध्या प्रसाद खत्री ने गाँधी की भाषा नीति से काफ़ी पहले 'हिंदी-उर्दू विवाद सुलझाने के मक़सद से संस्कृतनिष्ठ शब्दों एवं कठिन अरबी-फ़ारसी शब्दों का विरोध किया था। खत्री की 'मुंशी हिंदी' और गाँधी की 'हिंदुस्तानी' में नाम का ही फ़र्क़ है। खत्री 'मुंशी हिंदी' के लिए देवनागरी एवं फ़ारसी दोनों लिपियों को स्वीकार कर सुलहपरक भाषा नीति प्रस्तावित कर रहे थे।'

लेखक ने गाँधी की हिंदुस्तानी भाषा की परिकल्पना के वास्तविक पूर्व-प्रस्तावक अयोध्या प्रसाद खत्री की प्रासंगिकता को महत्त्व देते हुए समकालीन दूसरे शीर्ष साहित्यकारों को कटघरे में खड़ा करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि 'खत्री के कविता द्वारा हिंदी और उर्दू को क़रीब लाने की कोशिश तत्कालीन हिंदी लेखकों को पसंद नहीं आयी। उन्नीसवीं सदी के बड़े साहित्यकार अयोध्या प्रसाद खत्री के मक़सद को समझे बग़ैर विरोध करते रहे। आज यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि उस दौर में खत्री सही रास्ते पर चल रहे थे या उनके विरोधी?' लेखक ने खत्री को भारतेंदु और द्विवेदी से ज़्यादा केंद्रीयता और महत्त्व देने के लिए दो कारण बताए हैं— आधुनिक खड़ी बोली को काल के स्तर पर

स्थापित करने हेतु उनका आंदोलन और 'मुंशी हिंदी' (हिंदुस्तानी) का प्रस्ताव।

कहना न होगा कि खत्री केवल दो कारणों या योगदानों से भारतेंदु या द्विवेदी के समकक्ष नहीं माने जा सकते। भारतेंदु या द्विवेदी के समग्र साहित्यिक व्यक्तित्व, महत्त्व एवं योगदानों से खत्री की तुलना नहीं हो सकती। साहित्य का इतिहास अंततः शब्द की सर्जनात्मकता के संरक्षण ही है और खत्री कालजयी साहित्य सर्जक नहीं थे। एक भाषा-आंदोलनकारी के रूप में उनका स्मरण सभी इतिहासकारों ने किया है और इस लिहाज़ से वे इतिहास के एक तारीख़ी व्यक्तित्व बने रहेंगे।

गिरि ने खत्री को उनकी 'मुंशी भाषा' (जो महात्मा गाँधी की 'हिंदुस्तानी' की पूर्वपीठिका प्रतीत होती है) के लिए अतिरिक्त महत्त्व दिया है। यह देवनागरी या फ़ारसी लिपियों में लिखी जा सकती थी। 'हिंदुस्तानी' के पक्षधर गिरि के भाषाई चिंतन में यहाँ एक तीखा अंतर्विरोध है। एक तरफ़ वे मैथिली, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी या राजस्थानी को आठवीं अनुसूची में शामिल करवा कर स्वायत्त करना चाहते हैं, वहीं दूसरी तरफ़ उर्दू के इतिहास को हिंदी साहित्य के इतिहास में अंतर्विहित भी करना चाहते हैं। क्या कभी उन्होंने उर्दू वालों की राय ली है कि वे अपनी स्वायत्तता और स्वतंत्र अस्मिता का समर्पण करना चाहते हैं या नहीं? व्यावहारिक तथ्य यही है कि उर्दू की अस्मिता मैथिली (जो अब अनुसूची का अंग बन कर स्वायत्त हो चुकी है), भोजपुरी, ब्रजभाषा या अवधी की तुलना में ज़्यादा मुखर, सजग और संघर्षशील है। इसे सतही समानता या सहिष्णुता के तर्कों से नहीं दबाया जा सकता है। रही बात लिपि की तो खत्री या गाँधी वास्तविकता से दूर 'असम्भव आदर्श' की प्रस्तावना प्रस्तुत कर रहे थे। खत्री या गाँधी इस वास्तविकता से जानबूझ कर या अनजाने में केवल काल्पनिक समाधान के लिए एक ही भाषा के लिए दो लिपियों का आग्रह कर रहे थे। भाषा और लिपि में कुछ हद तक आत्मा और शरीर का संबंध होता है, और यह आकस्मिक और अकारण नहीं था कि हिंदी-उर्दू विवाद में वास्तविक विवाद, भिन्नता एवं संघर्ष की प्राथमिक प्रस्थान बिंदु लिपि ही थी। इसके अलावा एक ही भाषा के लिए दो लिपियों का प्रस्ताव किसी भी दृष्टि से व्यावहारिक नहीं था। लिपियों के चयन में ही अस्मिता-संघर्ष की सम्भावना के बीज निहित थे। सबसे बड़ा तथ्य तो यही है कि 'हिंदुस्तानी' का वास्तविक, व्यावहारिक और रचनात्मक उदाहरण और प्रतिमान हमारे सामने ठोस रूप में उपलब्ध नहीं हैं। मीर, ग़ालिब या नज़ीर की रचनावली से कुछ लोकप्रिय पंक्तियों को उद्धृत करके काल्पनिक 'हिंदुस्तानी' के अस्तित्व को ठोस ढंग से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। 'हिंदुस्तानी' के मसीहा माने जाने वाले प्रेमचंद को अपनी रचनाओं को उर्दू से हिंदी में अनुवाद करना पड़ता था। यदि भिन्नता केवल लिपि की होती तो अनुवाद की उन्हें आवश्यकता नहीं पड़ती और उनके गद्य का स्तर दोनों भाषाओं में समान होता। जबकि व्यवहार में ऐसा नहीं है। आलोचक मानते हैं कि प्रेमचंद का उर्दू गद्य उनके हिंदी गद्य से ज़्यादा निखरा हुआ है। अतः भाषा केवल लिपि केंद्रित भी नहीं है, उसमें संस्कृति का भी प्रवाह होता है। केवल कठिन संस्कृत या फ़ारसी के शब्दों को हटा देने से नयी भाषा नहीं बन सकती, और सर्जनात्मक माँग के अनुरूप कठिन शब्दों को सर्वत्र बहिष्कृत करना भी रचनात्मक रूप से असम्भव है। हिंदी और उर्दू आज एक अपने आप में तथ्य हैं, जबकि 'हिंदुस्तानी' एक असम्भव और अप्राप्य अत्यावहारिक आदर्श।

गिरि ने खड़ी बोली की तुलना में ब्रजभाषा के पिछड़ने के कारणों की चर्चा नहीं की है। दरअसल, खड़ी बोली की तुलना में ब्रजभाषा के पिछड़ने के बहुस्तरीय कारण थे। साहित्यिक विकास की चरम अवस्था पर पहुँचने के बाद भी ब्रजभाषा का व्याकरणिक रूप सुनिश्चित नहीं हो सका था। यह मानक भाषा के रूप में ब्रज की बहुत बड़ी कमज़ोरी थी। साहित्य की सुदीर्घ तथा विस्तृत स्वीकृत यात्रा के बावजूद ब्रजभाषा में गद्य का उल्लेखनीय विकास नहीं हो सका था। स्पष्टतः ब्रजभाषा में केवल 'हृदय पक्ष' की अधिक अभिव्यक्ति थी— विचार पक्ष उपेक्षित था। सबसे महत्त्वपूर्ण यह भी था कि ब्रजभाषा, खड़ी बोली की तुलना में साहित्यिक भाषा अधिक थी, 'जनभाषा' या 'सम्पर्क भाषा' के रूप में

लोकप्रिय और विस्तृत नहीं थी। ब्रजभाषा का भाव-पक्ष देश-काल की परिस्थितियों से अप्रभावित सनातन और स्थिर प्रतीत होता था। इसी कारण नयी चेतना की पहली अभिव्यक्ति खड़ी बोली के माध्यम से गद्य में हुई। किसी भी साहित्य के गद्य और पद्य की भाषा तो एक ही हो सकती थी— और यह खड़ी बोली ही साबित हुई।

गिरि की यह चिंता सही है कि 'कथित बोलियों' पर अस्तित्व का संकट आया हुआ है। पर उनके निष्कर्ष से विपरीत संकट का वास्तविक कारण 'हिंदी का वर्चस्व' नहीं है। हिंदी तो स्वयं अस्मिता के संकट से जूझ रही है। साहित्य और सिनेमा को छोड़ कर शायद ही हिंदी की कहीं संतोषजनक प्रगति लक्षित होती हो। भारतीय भाषाओं और क्षेत्रीय बोलियों पर संकट का वास्तविक कारण 'अंग्रेज़ी' का राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय वर्चस्व है। अंत:संघर्ष के वास्तविक और साझा मोर्चे अर्थात् अंग्रेज़ी के एकल आधिपत्य की अनदेखी कर अवास्तविक और कल्पित 'हिंदी साम्राज्यवाद' के विरुद्ध मोर्चाबंदी अंतत: अंग्रेज़ी के वर्चस्व को मज़बूती प्रदान करती प्रतीत होती है। बांग्ला, मराठी, तमिल, पंजाबी या भोजपुरी, अवधि आदि हिंदी के कारण न तो संकटग्रस्त हैं न हिंदी विरोध से अपने अस्तित्व की सुरक्षा कर सकती हैं। यदि हिंदी ही नहीं टिकेगी तो भोजपुरी, अवधी या ब्रजभाषा के बचे रहने की उम्मीद आकाशकुसुम को पाने जैसी ही है।

लेखक ने उन्नीसवीं सदी के अंतिम 15 वर्षों के विमर्श के पश्चात् अगले अध्याय में संविधान सभा के अंदर हुए 'भाषाई विमर्श' को शोध का विषय बनाया है, और बीच के वर्षों (1900-1947) के विमर्श को छोड़ दिया है। पुस्तक के दूसरे अध्याय में संविधान सभा में 4-6-8-9 नवम्बर,1948 और 12-13-14 सितम्बर, 1949 के दौरान हुए भाषा-संबंधी विचार-विमर्श की कालक्रमिक समीक्षा की है। उन्होंने आलोचनात्मक ढंग से संविधान सभा के बहुकोणीय और बहुस्तरीय विमर्श को विश्लेषित करते हुए सही निष्कर्ष दिया है कि 'संविधान-सभा में सभी भारतीय भाषाएँ हारीं, विजयश्री का तिलक अंग्रेज़ी के ललाट पर लगा।'

> 'हिंदुस्तानी' का वास्तविक, व्यावहारिक और रचनात्मक उदाहरण और प्रतिमान हमारे सामने ठोस रूप में उपलब्ध नहीं हैं। मीर, ग़ालिब या नज़ीर की रचनावली से कुछ लोकप्रिय पंक्तियों को उद्धृत करके काल्पनिक 'हिंदुस्तानी' के अस्तित्व को ठोस ढंग से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। 'हिंदुस्तानी' के मसीहा माने जाने वाले प्रेमचंद को अपनी रचनाओं को उर्दू से हिंदी में अनुवाद करना पड़ता था। यदि भिन्नता केवल लिपि की होती तो अनुवाद की उन्हें आवश्यकता नहीं पड़ती और उनके गद्य का स्तर दोनों भाषाओं में समान होता।

पर संविधान सभा में अंग्रेज़ी की जीत न तो आकस्मिक थी और न अप्रत्याशित। 14 सितम्बर, 1949 की अंग्रेज़ी की जीत की बुनियाद, संविधान सभा के बाहर बहुत पहले ही डाली जा चुकी थी। न ही 14 सितम्बर, 1949 का राजभाषा अधिनियम अंग्रेज़ी के पक्ष में आख़िरी अधिनियम था। नि:संदेह इस रूप से हम भारतीय भाषाओं की नियति को केवल एक हफ़्ते के संवैधानिक विमर्श और उसके नियमों के सीमित दायरे में विश्लेषित नहीं कर सकते।

हिंदी को विकास की कई अवस्थाओं से गुज़रना पड़ा है। उसके लिए समय-समय पर कई आंदोलन भी हुए है। जनभाषा, राष्ट्रभाषा, सम्पर्क भाषा और राजभाषा के विविध सोपान हिंदी के विकास के विविध आयाम हैं। इस ऐतिहासिक विकास का अनुशीलन अपने में एक महत्त्वपूर्ण विषय है। आज के सामान्य पाठक और विद्यार्थी इससे अपरिचित हैं।

हिंदी के सार्वदेशिक स्वरूप को विकसित करने में अहिंदी प्रदेशों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन का प्रभाव देश के राजनीतिक जीवन के प्रत्येक पहलू पर पड़ा था। भारत की राष्ट्रीयता का भाषा के साथ अविच्छिन्न-संबंध स्थापित हो गया था। हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित करने वालों में अहिंदी-प्रदेश के नेता ही अग्रिम-पंक्ति में थे। सारे देश के लिए राष्ट्रभाषा हिंदी की कल्पना करने वाले बंगाल के केशवचंद्र सेन थे। यह देख कर आश्चर्य हो सकता है कि राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी की घोषणा कर उसके व्यापक प्रचार के लिए ठोस क़दम उठाने वाले सभी अहिंदी भाषी थे। शताब्दियों से हिंदी भाषा और साहित्य को समृद्ध करने में हिंदी-प्रदेश के अतिरिक्त अहिंदी प्रदेशों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। भारत की भाषाओं में केवल हिंदी ही ऐसी भाषा है, जिसको स्वाभाविक रूप से अपने क्षेत्र के बाहर भी राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विकास का अवसर उपलब्ध होता रहा है।

संविधान सभा में राजभाषा का प्रश्न भी उपस्थित हुआ था। राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्रभाषा आंदोलन के परिणामस्वरूप देश में जो वातावरण बना, उससे संविधान सभा के सदस्य परिचित थे। वे सहमत थे कि देश में एक ऐसी भाषा अवश्य होनी चाहिए जो भावात्मक एकता को मज़बूत करने में सहायक हो और अंतर्प्रांतीय और केंद्र सरकार के कार्य के लिए अंग्रेज़ी का स्थान ले सके। हिंदी के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क यह था कि सदियों से अखिल भारतीय स्वरूप प्राप्त कर चुकी यह भाषा देश में सबसे अधिक लोगों द्वारा समझी एवं बोली जाती है। इन्हीं कारणों से सभा के साथ-साथ उसके बाहर हिंदी का प्रबल समर्थन होने लगा था। कांग्रेस दल की एक बैठक में हिंदी के पक्ष में निर्णय किया गया। इस बीच अगस्त, 1949 में राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद का एक विराट सम्मेलन दिल्ली में हुआ और इसमें अनेक अहिंदीभाषी विद्वानों एवं नेताओं ने भी हिंदी का समर्थन किया। अधिवेशन में यह प्रस्ताव पारित हुआ कि देवनागरी में लिखित हिंदी को ही 'राजभाषा' के रूप में स्वीकार किया जाए। इस प्रश्न पर काफ़ी वाद-विवाद के बाद सभा ने प्रस्तुत कई विकल्पों में से वास्तविक एकमात्र विकल्प 'देवनागरी लिपि' में लिखी जाने वाली हिंदी को राजभाषा और रोमन अंकों को स्वीकार किया।

26 जनवरी, 1950 को संविधान लागू हो गया और उसमें व्यवस्था कर दी गयी थी कि हिंदी को 1965 तक राजभाषा के पद पर आसीन कर दिया जाएगा, परंतु सरकार की नीति के कारण ऐसा नहीं हो सका। अहिंदी क्षेत्रों, विशेषत: बंगाल और तमिलनाडु में हिंदी का घोर विरोध हुआ। इसकी प्रतिक्रिया हिंदी क्षेत्र में हुई। इस अखिल भारतीय भाषाई कोलाहल और विवाद के बीच जवाहर लाल नेहरू ने आश्वासन दिया कि हिंदी को 'एकमात्र राजभाषा' स्वीकार करने से पहले अहिंदी क्षेत्रों की सम्मति प्राप्त की जाएगी और तब तक अंग्रेज़ी को हटाया नहीं जाएगा। नि:संदेह यह निर्णय करके सरकार ने संविधान द्वारा दिये गये आदेशों की अवहेलना की ओर उचित राजनीतिक कौशल के अभाव में भाषाई विवाद बढ़ता गया। हिंदी की स्थिति को कमज़ोर करने के लिए कुछ राजनीतिक शक्तियाँ और प्रादेशिक तथा क्षेत्रीय अस्मिताएँ सक्रिय हो गयीं। इनके अलावा सामान्य रूप से हिंदी का विरोध करने वाले अधिकतर अंग्रेज़ी के समर्थक राजनीतिक नेता और नौकरशाही के तत्त्व तो थे ही। इन लोगों का तर्क है कि हिंदी सभ्यता के सभी अंगों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी से कमतर है।

यह आरोप कि हिंदी को राजभाषा बनने से सभी प्रादेशिक भाषाओं का विकास रुक जाएगा अपने आप में हास्यास्पद है। वास्तविकता यह है कि साहित्य, संस्कृति और उच्च शिक्षा में अंग्रेज़ी के दबदबे ने सभी भारतीय भाषाओं के अस्तित्व को संकट में डाल दिया है। यह तर्क सरासर स्वार्थप्रेरित और तथ्यहीन है कि हिंदी को अनिवार्य बनाना एक प्रकार का साम्राज्यवाद है।

हिंदी के विकास-पक्ष पर रोड़ा अटकाने वाले और भी तत्त्व हैं। इनमें हिंदीवालों की भी भूमिका है। हिंदी क्षेत्र में ही हिंदी के प्रति उदासीनता हिंदी के लिए घातक सिद्ध हो रही है। मिथिला के कुछ शिक्षित जन हिंदी को राष्ट्रभाषा तो मानते हैं किंतु अपनी जातीय भाषा नहीं मानते। मराठी के समान वे मैथिली को हिंदी से स्वतंत्र भाषा मानते हैं। आठवीं अनुसूची में यह शामिल भी की गयी है। भोजपुरी, राजस्थानी आदि को अलग स्वतंत्र भाषा मानने की दिशा में हिंदी भाषियों की जो माँग है, उसमें संकीर्णता नज़र आती है। इससे हिंदी के विरोधियों को भी यह कहने के लिए मौक़ा मिल जाता है कि हिंदी वालों के अनुसार ही हिंदी एक विशाल जन समूह की भाषा न होकर एक संकुचित प्रदेश की अल्पसंख्यक भाषा है। वे प्रचार करते हैं कि बुंदेलखंडी, भोजपुरी आदि सब स्वतंत्र भाषाएँ हैं जिन पर कृत्रिम साहित्यिक हिंदी ज़बरदस्ती थोपी गयी है।

विडम्बना है कि हिंदी भाषी राज्यों की सरकारों की तरफ़ से भी अपने प्रदेशों में हिंदी को पूर्ण रूप से राजभाषा बनाने में कोई ख़ास गम्भीरता नहीं दिखाई है। हिंदी प्रदशों की उदासीनता, संघ की संवैधानिक कर्तव्यहीनता और अहिंदीभाषी क्षेत्रों के हिंदी विरोध ने हिंदी की सम्भावना को सीमित कर दिया है, नहीं तो आज हिंदी न केवल वास्तविक और एकमात्र 'राजभाषा' होती वरन वह संयुक्त राष्ट्र संघ की भी कार्यवाहक स्वीकृत भाषा भी हो चुकी होती।

पुस्तक का तीसरा अध्याय 'बीच बहस में लघु पत्रिकाएँ: आंदोलन, संरचना और प्रासंगिकता' प्रत्यक्षत: भाषा-विमर्श से नहीं जुड़तीं, पर इसमें लघुपत्रिका आंदोलन के विभिन्न पड़ावों, मुद्दों और समस्याओं का सटीक आलोचनात्मक विवरण है। पर यह अध्याय पुस्तक के केंद्रीय विमर्श को खण्डित करता प्रतीत होता है।

इस पुस्तक के लेख शोध-पत्र के रूप में तो पूर्ण और घनीभूत प्रतीत होते हैं, पर संगठित पुस्तक के रूप में यह अधूरी पुस्तक प्रतीत होती है। विषय-विवेचन में अध्यायों के बीच का ख़ालीपन असम्बद्धता एवं अपूर्णता का एहसास कराता है। पर गम्भीर शोध-दृष्टि एवं विषय की प्रासंगिकता के कारण यह पुस्तक आगे के अध्येताओं और स्वयं लेखक के लिए अगली मंज़िल पर पहुँचने की सीढ़ी बन सकती है।

संकट का वास्तविक कारण 'हिंदी का वर्चस्व' नहीं है। हिंदी तो स्वयं अस्मिता के संकट से जूझ रही है। साहित्य और सिनेमा को छोड़ कर शायद ही हिंदी की कहीं संतोषजनक प्रगति लक्षित होती हो। भारतीय भाषाओं और क्षेत्रीय बोलियों पर संकट का वास्तविक कारण 'अंग्रेज़ी' का राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय वर्चस्व है। अंतर्संघर्ष के वास्तविक और साझा मोर्चे अर्थात् अंग्रेज़ी के एकल आधिपत्य की अनदेखी कर अवास्तविक और कल्पित 'हिंदी साम्राज्यवाद' के विरुद्ध मोर्चाबंदी अंतत: अंग्रेज़ी के वर्चस्व को मज़बूती प्रदान करती प्रतीत होती है।